IJAER/ September-October 2020/Volume-9/Issue-2 ISSN: 2278-9677
International Journal of Arts & Education Research

प्राचीन भारतीय वास्तुकला

दीपक बहुगुणा
शोधार्थी इतिहास विभाग.
विनोवा भावे विश्वविद्यालय हजारीबाग झारखण्ड

सार

यह लेख प्राचीन भारत में वास्तुकला, मंदिर के डिजाइन और कला के साथ–साथ हड़प्पा और ऐतिहासिक कला और लेखन के बीच निरंतरता से संबंधित है। यह उत्तर–पश्चिम भारत (सी। 2000 ईसा पूर्व) की संरचनाओं पर ध्यान आकर्षित करके उत्तर–हड़प्पा, भारत की पूर्व–बौद्ध कला में अंतराल को भरता है, जो देर–वैदिक विषयों की याद दिलाता है, और यह दिखाते हुए कि इसमें प्रमुख सबूत हैं हड़प्पा और वैदिक काल की पहचान का समर्थन। पवित्र ज्यामिति के वैदिक विचार और शास्त्रीय हिंदू मंदिर रूप में उनके परिवर्तन का वर्णन किया गया है। भारतीय वास्तु की विशेषता यहाँ की दीवारों के उत्कृष्ट और प्रचुर अलंकरण में है। भित्तिचित्रों और मूर्तियों की योजना, जिसमें अलंकरण के अतिरिक्त अपने विषय के गंभीर भाव भी व्यक्त होते हैं, भवन को बाहर से कभी कभी पूर्णतया लपेट लेती है।

कुंजीशब्द : भारतीय , कला , वास्तुकला

प्रस्तावना

कभी–कभी यह याद दिलाना बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है कि हम वह सभ्यता हैं जो कम से कम 4,500 वर्षों तक फैली हुई है और जिसने हमारे जीवन और समाज में लगभग हर चीज पर अपना प्रभाव छोड़ा है। कल्पना कीजिए कि यूनेस्को ने 830 विश्व धरोहर स्थलों को सूचीबद्ध किया है, जिनमें से 26 भारत में हैं। यह छह अन्य देशों से कम है। क्या यह इस प्राचीन भूमि, लोगों की रचनात्मक प्रतिभा और उद्योग और प्रकृति द्वारा दिए गए उपहारों का एक ठोस प्रमाण नहीं है। चाहे वह एक छोर पर भीमबेटका की पूर्व–ऐतिहासिक रॉक कला हो या असंख्य महल, मस्जिद, मंदिर, गुरुद्वारे, चर्च या मकबरे और विशाल शहर और गंभीर स्तूप।

दिल्ली, आगरा, जयपुर, मुंबई और कलकत्ता आदि शहरों से गुजरते हुए आपको कई खूबसूरत इमारतें मिलती हैं। कुछ स्मारक, महल, मंदिर, चर्च, मस्जिद और स्मारक हैं। उनमें से बहुतों की नींव मसीह से पहले और बहुतों की मसीह के आने के बाद थी। कई

पीढ़ियां इस वास्तुकला का हिस्सा रही हैं जो हमें उस गौरवशाली अतीत की याद दिलाती है जो हमारा रहा है। ऐसा इसलिए है क्योंकि कला और वास्तुकला भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। कई विशिष्ट विशेषताएं जो आज हम वास्तुकला में पाते हैं, भारतीय इतिहास की लंबी अवधि में विकसित हुई हैं। भारतीय वास्तुकला का सबसे पुराना और सबसे उल्लेखनीय प्रमाण हड़प्पा सभ्यता के शहरों में मिलता है जो एक अद्वितीय नगर योजना का दावा करते हैं। हड़प्पा काल के बाद की स्थापत्य शैली को हिंदू, बौद्ध और जैन के रूप में वर्गीकृत किया गया है, मध्ययुगीन काल में फारसी और वास्तुकला की स्वदेशी शैलियों का संश्लेषण देखा गया। इसके बाद औपनिवेशिक काल ने पश्चिमी स्थापत्य रूपों का प्रभाव भारत में लाया। इस प्रकार भारतीय वास्तुकला स्वदेशी शैलियों और बाहरी प्रभावों का एक संश्लेषण है जिसने इसे अपनी अनूठी विशेषता प्रदान की है। भारत के स्थापत्य की जड़ें यहाँ के इतिहास, दर्शन एवं संस्कृति में निहित हैं। भारत की वास्तुकला यहाँ की परम्परागत एवं बाहरी प्रभावों का मिश्रण है।

भारतीय वास्तु की विशेषता यहाँ की दीवारों के उत्कृष्ट और प्रचुर अलंकरण में है। भित्तिचित्रों और मूर्तियों की योजना, जिसमें अलंकरण के अतिरिक्त अपने विषय के गंभीर भाव भी व्यक्त होते हैं, भवन को बाहर से कभी कभी पूर्णतया लपेट लेती है। इनमें वास्तु का जीवन से संबंध क्या, वास्तव में आध्यात्मिक जीवन ही अंकित है। न्यूनाधिक उभार में उत्कीर्ण अपने अलौकिक कृत्यों में लगे हुए देश भर के देवी देवता, तथा युगों पुराना पौराणिक गाथाएँ, मूर्तिकला को प्रतीक बनाकर दर्शकों के सम्मुख अत्यंत रोचक कथाओं और मनोहर चित्रों की एक पुस्तक सी खोल देती हैं।

'वास्तु' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'वस' धातु से हुई है जिसका अर्थ 'बसना' होता है। चूंकि बसने के लिये भवन की आवश्यकता होती है अतः 'वास्तु' का अर्थ 'रहने हेतु भवन' है। 'वस' धातु से ही वास, आवास, निवास, बसति, बस्ती आदि शब्द बने हैं।

सिन्धुघाटी का स्थापत्य

दो–तीन हजार वर्ष ई. पू. विकसित सिंधु घाटी सभ्यता की खोज से एक आश्चर्यजनक तथ्य प्रकाश में आया है कि भारत की प्राचीनतम कला सौंदर्य की दृष्टि से ऐसी ही शून्य थी, जैसी आजकल की कोई भी सभ्यता। जब आजकल की कोई भी सभ्यता जागरण की अँगड़ाई भी न ले पाई थी तब भारत की यह कला इतनी विकसित थी। इन बस्तियों के निर्माताओं का नगर नियोजन संबंधी ज्ञान इतना परिपक्व था, उनके द्वारा प्रयुक्त सामग्री ऐसी उत्कृष्ट कोटि की थी और रचना इतनी सुदृढ़ थी कि उस सभ्यता का आरंभ बहुत पहले, लगभग चार पाँच हजार वर्ष, ईसा पूर्व, मानने को बाध्य हो पड़ता है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाइयों से प्राप्त अवशेष तत्कालीन भौतिक समृद्धि के सूचक हैं और उनमें किसी मंदिर, देवालय आदि के अभाव से यह अनुमान होता है कि वहाँ धार्मिक विचारों का कुछ विशेष स्थान न था, अथवा यदि था तो वह निराकार शक्ति में आस्था के

रूप में ही था। फिर भी, विलक्षण प्रतिभा और उत्कृष्ट वास्तुकौशल से आद्योपांत परिप्लावित भारतीय जनजीवन के इतिहास का ऐसा आडंबरहीन आरंभ आश्चर्यजनक होने के साथ–साथ और अधिक गवेषण की अपेक्षा रखता है, जिससे आर्य सभ्यता से, जो इससे भी प्राचीन मानी जाती है, इसका संबंध जोड़नेवाली कड़ी का पता लग सके।

प्राचीन भारतीय स्थापत्य

सीमित आवश्यकताओं में विश्वास रखनेवाले, अपने कृषि कर्म और आश्रमजीवन से संतुष्ट आर्य प्रायरू ग्रामवासी थे और शायद इसीलिए, अपने परिपक्व विचारों के अनुरूप ही, समसामयिक सिंधु घाटी सभ्यता के विलासी भौतिक जीवन की चकाचौंध से अप्रभावित रहे। कुछ भी हो, उनके अस्थायी निवासों से ही बाद के भारतीय वास्तु का जन्म हुआ प्रतीत होता है। इसका आधार धरती में और विकास वृक्षों में हुआ, जैसा वैदिक वाङ्मय में महावन, तोरण, गोपुर आदि के उल्लेखों से विदित होता है। अतरू यदि उस अस्थायी रचनाकाल की कोई स्मारक कृति आज देखने को नहीं मिलती, तो कोई आश्चर्य नहीं।

धीरे–धीरे नगरों की भी रचना हुई और स्थायी निवास भी बने। बिहार में मगध की राजधानी राजगृह शायद 8वीं शती ईसा पूर्व में उन्नति के शिखर पर थी। यह भी पता लगता है कि भवन आदिकालीन झोपड़ियों के नमूने पर प्रायः गोल ही बना करते थे। दीवारों में कच्ची ईंटें भी लगने लगी थीं और चौकोर दरवाजे खिड़कियाँ बनने लगी थीं। बौद्ध लेखक धम्मपाल के अनुसार, पाँचवीं शती ईसा पूर्व में महागोविन्द नामक स्थपति ने उत्तर भारत की अनेक राजधानियों के विन्यास तैयार किए थे। चौकोर नगरियाँ बीचोबीच दो मुख्य सड़कें बनाकर चार चार भागों में बाँटी गई थीं। एक भाग में राजमहल होते थे, जिनका विस्तृत वर्णन भी मिलता है। सड़कों के चारों सिरों पर नगरद्वार थे। मौर्यकाल (4थी शती ई. पू.) के अनेक नगर कपिलवस्तु, कुशीनगर, उरुबिल्व आदि एक ही नमूने के थे, यह इनके नगरद्वारों से प्रकट होता है। जगह–जगह पर बाहर निकले हुए छज्जों, स्तंभों से अलंकृत गवाक्षों, जँगलों और कटहरों से बौद्धकालीन पवित्र नगरियों की भावुकता का आभास मिलता है।

राज्य का आश्रय पाकर अनेक स्तूपों, चौत्यों, बिहारों, स्तम्भों, तोरणों और गुफामंदिरों में वास्तुकला का चरम विकास हुआ। तत्कालीन वास्तुकौशल के उत्कृष्ट उदाहरण पत्थर और ईंट के साथ–साथ लकड़ी पर भी मिलते हैं, जिनके विषय में सर जॉन मार्शल ने "भारत का पुरातात्विक सर्वेक्षण, 1912–13ष् में लिखा है कि ष्वे तत्कलीन कृतियों की अद्वितीय सूक्ष्मता और पूर्णता का दिग्दर्शन कराते हैं। उनके कारीगर आज भी यदि संसार में आ सकते, तो अपनी कला के क्षेत्र में कुछ विशेष सीखने योग्य शायद न पातेष्। साँची, भरहुत, कुशीनगर, बेसनगर (विदिशा), तिगावाँ (जबलपुर), उदयगिरि, प्रयाग, कार्ली (मुम्बई), अजन्ता, इलोरा, विदिशा, अमरावती, नासिक, जुनार (पूना), कन्हेरी, भुज, कोंडेन, गांधार (वर्तमान कंधार–अफगानिस्तान), तक्षशिला पश्चिमोत्तर सीमान्त में चौथी शती ई. पू. से चौथी

शती ई. तक की वास्तुकृतियाँ कला की दृष्टि से अनूठी हैं। दक्षिण भारत में गुंतूपल्ले (कृष्ण जिला) और शंकरन् पहाड़ी (विजगापट्टम् जिला) में शैलकृत्त वास्तु के दर्शन होते हैं। साँची, नालन्दा और सारनाथ में अपेक्षाकृत बाद की वास्तुकृतियाँ हैं।

पाँचवीं शती से ईंट का प्रयोग होने लगा। उसी समय से ब्राह्मण प्रभाव भी प्रकट हुआ। तत्कालीन ब्राह्मण मंदिरों में भीटागाँव (कानपुर जिला), बुधरामऊ (फतेहपुर जिला), सीरपुर और खरोद (रायपुर जिला), तथा तेर (शोलापुर के निकट) के मंदिरों की शृंखला उल्लेखनीय है। भीटागाँव का मंदिर, जो शायद सबसे प्राचीन है, 36 फुट वर्ग के ऊँचे चबूतरे पर बुर्ज की भाँति 70 फुट ऊँचा खड़ा है। बुधरामऊ का मंदिर भी ऐसा ही है। अन्य हिंदू मंदिरों की भाँति इनमें मण्डप आदि नहीं है, केवल गर्भगृह हैं। भीतर दीवारें यद्यपि सादी हैं, तथापि उनमें पट्टे, किंगरियाँ, दिल्हे, आले आदि, रचना की कुछ विशिष्टताएँ इमारतों की प्राचीनता की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इनके विभिन्न भागों का अनुपात सुंदर है और वास्तु प्रभाव कौशलपूर्ण। आलों में बौद्धचौत्यों की डाटों का प्रभाव अवश्य पड़ा दिखाई पड़ता है। इनकी शैलियों का अनुकरण शताब्दियों बाद बननेवाले मंदिरों में भी हुआ है।

हिंदू वास्तुकौशल का विस्तार महलों, समाधियों, दुर्गों, बावड़ियों और घाटों में भी हुआ, किन्तु देश भर में बिखरे मंदिरों में यह विशेष मुखर हुआ है। गुप्तकाल (350–650 ई.) में मंदिरवास्तु के स्वरूप में स्थिरता आई। ७वीं शती के अंत में शिखर महत्वपूर्ण और अनिवार्य अंग समझा जाने लगा। मंदिरवास्तु में उत्तर की ओर आर्य शैली और दक्षिण की ओर द्रविड़ शैली स्पष्ट दीखती है। ग्वालियर के ष्तेली का मंदिरष (११वीं शती) और भुवनेश्वर के ष्बैताल देवल मंदिरष (६वीं शती) उत्तरी शैली का प्रतिनिधित्व करते हैं और सोमंगलम्, मणिमंगलम् आदि के चोल मंदिर (११वीं शती) दक्षिणी शैली का। किंतु ये शैलियाँ किसी भौगोलिक सीमा में बँधी नहीं हैं। चालुक्यों की राजधानी पट्टदकल के दस मंदिरों में से चार (पप्पानाथ – 680 ई., जंबुलिंग, करसिद्धेश्वर, काशीविश्वनाथ) उत्तरी शैली के और छह (संगमेश्वर – 75 ई., विरूपाक्ष – 740 ई., मल्लिकार्जुन–740 ई., गलगनाथ–740 ई., सुनमेश्वर और जैन मंदिर) दक्षिणी शैली के हैं। 10 वीं – 11 वीं शती में पल्लव, चोल, पांड्य, चालुक्य और राष्ट्रकूट सभी राजवंशों ने दक्षिणी शैली का पोषण किया। दोनों ही शैलियों पर बौद्ध वास्तु का प्रभाव है, विशेषकर शिखरों में।

भारत की ऐतिहासिक इमारतों की माया और रहस्य के पीछे अनेक किंवदंतियाँ हैं। मध्य भारत के कुछ सर्वश्रेष्ठ मंदिर एक काल्पनिक राजकुमार जनकाचार्य द्वारा बनाए कहे जाते हैं, जिसे ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त स्वरूप बीस वर्ष इस काम में लगाने पड़े थे। एक अन्य किंवदंति के अनुसार ये असाधारण इमारतें एक ही रात में पाण्डवों न खड़ी की थीं। उत्तरी गुजरात का विशाल मंदिर (1125 ई.) गुजरात–नरेश सिद्धराज द्वारा और खानदेश के मंदिर गवाली राजवंश द्वारा निर्मित कह जाते हैं। दक्षिण के अनेक मंदिर राजा रामचंद्र के मंत्री हेमदपन्त के धार्मिक उत्साह से बने कहे जाते हैं और 13वीं शती के कुछ मंदिरों की शैली

ही हेमदपन्ती कहलाने लगी है। इसे अज्ञात निर्माताओं की शालीनता कहें, या ऐतिहासिक तमिस्र, किंतु इसमें सन्देह नहीं कि मंदिरवास्तु, जिसे अनूठे उदाहरण भुवनेश्वर के लिंगराज (1000 ई.), मुक्तेश्वर (975 ई.), ब्रह्मेश्वर (1075 ई.), रामेश्वर (1075 ई.), परमेश्वर, उत्तरेश्वर, ईश्वरेश्वर, भरतेश्वर, लक्ष्मणेश्वर आदि मंदिर, कोणार्क का सूर्यमंदिर, ममल्लिपुरम् के सप्तरथ, कांचीवरम् का कैलाशनाथ मंदिर, श्री निवासनालुर (त्रिचनापल्ली जिला) का कोरंगनाथ मंदिर, त्रिचनापल्ली का जम्बुकेश्वर मंदिर, दारासुरम् (तंजौरजिला) का ऐरावतेश्वर मंदिर, तंजौर के सुब्रह्मण्यम् एवं बृहदेश्वर मंदिर, विजयनगर का विट्ठलस्वामी मंदिर (16 वीं शती), तिरुवल्लूर एवं मदुरा के विशाल मंदिर, त्रावनकोर का शचीन्द्रम् मंदिर (16 वीं शती), रामेश्वर के विशाल मंदिर (17 वी शती) वेलूर (मैसूर) का चन्नकेशव मंदिर (12 वीं शती), सोमनाथपुर (मैसूर) का केशव मंदिर (1268 ई.), पुरी का जगन्नाथ मंदिर (1100 ई.), खजुराहो की आदिनाथ, विश्वनाथ, पार्श्वनाथ और कंदरिया महादेव मंदिर, किरादू (मेवाड़) के शिव मंदिर (11 वीं शती), आबू के तेजपाल (13 वीं शती) तथा विमल मंदिर (11 वी शती), ग्वलियर का सासबहू मंदिर एवं उदयेश्वर मंदिर (दोनों 11 वीं शती) सेजाकपुर (काठियावाड़) का नवलखा मंदिर (11 वीं शती), पट्टन का सोमनाथ मंदिर (12 वीं शती), मोधेरा (बड़ोदा) का सूर्य मंदिर (11 वीं शती), अंबरनाथ (थानाजिला) का महादेव मंदिर (11 वीं शती), जोगदा (नासिक जिला) का मानकेश्वर मंदिर, मथुरा वृंदावन का गोविंददेव मंदिर (1590 ई.), शत्रुंजय पहाड़ी (काठियावाड़) के जैन मंदिर, रणपुर (सादरी जोधपुर) का आदिनाथ मंदिर (1450 ई.) आदि आदि देश भर में बिखरे पड़े हैं, जो भव्यता, विशालता, उत्कृष्टता और सर्थकता सभी दृष्टियों से अनुपम है। देश में साथ साथ विकसित होते हुए बौद्धवास्तु, जैन वास्तु, हिंदू वास्तु, तथा द्रविण वास्तु की ये झाँकियाँ विशाल भारत की परंपरागत धार्मिक सहिष्णुता का प्रमाण हैं।

बृहत्तर भारत का वास्तु

भारतीय कला के उत्कृष्ट नमूने भारत के बाहर श्रीलंका, नेपाल, बरमा, स्याम, जावा, बाली, हिंदचीन और कंबोडिया में भी मिलते हैं। नेपाल के शंभुनाथ, बोधनाथ, मामनाथ मंदिर, लंका में अनुराधापुर का स्तूप और लंकातिलक मंदिर, बरमा के बौद्ध मठ और पगोडा, कंबोडिया में अंकोर के मंदिर, स्याम में बैंकाक के मंदिर, जावा में प्रांबनाम का बिहार, कलासन मंदिर और बोरोबंदर स्तूप आदि हिंदू और बौद्ध वास्तु के व्यपक प्रसार के प्रमाण हैं। जावा में भारतीय संस्कृति के प्रवेश के कुछ प्रमाण 4 वी शती ईसवी के मिलते हैं। वहाँ के अनेक स्मारकों से पता लगता है कि मध्य जावा में 625 से 928 ई. तक वास्तुकला का स्वर्णकाल और पूर्वी जावा में 928 से 1478 ई. तक रजतकाल था।

बीसवीं शती का वास्तु

सन् 1911 ई. में ब्रिटिश राज्य उन्नति के शिखर पर था। उसी समय दिल्ली दरबार में घोषणा की गई और साम्राज्य की राजधानी के अनुरूप एक नई दिल्ली में और सारे भारत

के जिला सदर स्थानों तक में, सुंदर इमारतें बनवाई, जिनमें अनेक कार्यालय भवन, गिरजे और ईसाई कब्रिस्तान कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। सरकारी प्रयास से नई दिल्ली में राजभवन (अब राष्ट्रपति भवन), सचिवालय भवन, संसद् भवन जैसी भव्य इमारतें बनीं, जिनमें पाश्चात्य कला के साथ हिंदू, बौद्ध और मुस्लिम कला का सुखद सम्मिश्रण दिखाई देता है।

मंदिर वास्तु भी, जो केवल व्यक्तिगत प्रयास से अपना अस्तित्व बनाए रहा, कुछ कुछ इसी दिशा में झुका। मुस्लिम वास्तु के अनुकरण पर अशोककालीन शिलालेखों की प्रथा पुन: प्रतिष्ठित हुई और मंदिरों मे भीतर बाहर, मूर्तियों और चित्रों के साथ लेखों को भी स्थान मिलने लगा। दिल्ली का लक्ष्मीनारायण मंदिर और हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, का शिवमंदिर बीसवीं शती के मंदिरवास्तु की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। मंदिरों के अतिरिक्त राजाओं के महल और विद्यालय आदि भी कला को प्रश्रय देते रहे। काशी हिंदू विश्वविद्यालय की सभी इमारतें और वाराणसी का भारतमाता मंदिर, काशी विश्वनाथ की मंदिरोंवाली नगरी में दर्शकों के लिए विशेष आकर्षण के केंद्र हैं। कुशीनगर में बने निर्वाण बिहार, बुद्ध मंदिर और सरकारी विश्रामगृह में बौद्ध कला को पुनर्जीवन मिला है। दिल्ली में लक्ष्मीनारायण मंदिर के साथ भी एक बुद्ध मंदिर है। इस प्रकार किसी शैली विशेष के पति अनाग्रह और उत्कृष्टता के लिए समन्वय 20 वीं शती की विशेषता समझी जा सकती है।

अध्ययन के उद्देश्य

1. बृहत्तर भारत का वास्तु के अध्ययन के लिए
2. मध्यकालीन मुस्लिम वास्तु के अध्ययन के लिए

साहित्य की समीक्षा

प्रारंभिक भारतीय वास्तुकला के बारे में विचारों को संश्लेषित करने के दो उल्लेखनीय प्रयास, जिन्होंने महान विद्वानों के प्रभाव का प्रयोग किया है, इस विषय पर आनंद कुमारस्वामी के निबंध हैं जो 1930 और 1931 में वार्षिक पत्रिका ईस्टर्न आर्ट और लुई रेनो के लेख ष्ला मैसन वेदिकष् (वैदिक) में प्रकाशित हुए थे। हाउस) जो 1939 में जर्नल एशियाटिक में छपा था। कुमारस्वामी के निबंधों ने मौर्य काल के वास्तुशिल्प रूपों और प्रतिमाओं के लिए एक पाठ्य संबंध प्रदान किया, और रेनू ने वैदिक अनुष्ठान के साथ निर्माण के विवरण का उपयोग करके पहले की अवधि में घर के रूप की कल्पना की।

कुमारस्वामी और रेनू दोनों इस धारणा के साथ शुरू करते हैं कि भारतीय वास्तुकला की शुरुआत प्रारंभिक सूत्र ग्रंथों से होती है जो आदिम संरचनाओं की बात करते हैं। कुमारस्वामी के लिए, जातक और महाकाव्य शहरों और शहर–द्वारों, महलों, और झोपड़ियों और मंदिरों की योजनाओं का पाठ्य साक्ष्य प्रदान करते हैं, लेकिन अपने शुरुआती बिंदु में

विरोधाभास पर प्रकाश डालते हैं जब वह स्वीकार करते हैं कि ष्वेद कभी–कभी संदर्भ देते हैं। श्दस्युओं के शहर,श यह देखा जाना चाहिए कि ब्राह्मणवादी कानून की किताबों में, जो कि बहुत करीब हैं, यदि नीचे चर्चा की जाने वाली स्थापत्य अवधि के साथ काफी समकालीन नहीं हैं, तो शहरों को तिरस्कृत किया जाता है, और शहरी जीवन के लिए कोई समारोह नहीं होते हैं; बौधायन धर्म सूत्र, प्.3.6.33, कहता है, श्एक व्यक्ति के लिए मोक्ष प्राप्त करना असंभव है, जो धूल से ढके शहर में रहता है।

धारणा यह है कि सूत्र ग्रंथ दस्यु शहरों के काल के हैं, लेकिन ये शहर वैदिक संस्कृति से बाहर हैं। यदि दस्यु स्वयं एक इंडो–ईरानी लोग हैं जो ईरानी साहित्य में ष्दहुष् के रूप में दिखाई देते हैं, तो वैदिक लोगों और दस्युओं के बीच विरोध रिश्तेदारी संबंधों वाले समूहों के बीच संघर्ष है। दूसरी ओर, पहली सहस्राब्दी, प्रारंभिक महाभारत के पूर्व–बौद्ध काल के शहरों के विवरण के साथ शत्रुतापूर्ण दस्यु राजाओं का कोई लेखा–जोखा नहीं है। इस प्रतीत होने वाली विरोधाभासी स्थिति को समेटने का एकमात्र तरीका यह मान लेना है कि वैदिक अनुष्ठान ग्रंथ सादगी और त्याग की विचारधारा के लिए प्रतिबद्ध पुजारी परिवारों के दृष्टिकोण से घटनाओं का वर्णन करते हैं, जो एक विचारधारा है जो बाद के समय में जारी रही। वैदिक दुनिया उस युग की तरह थी जो बाद में थी, इसकी अपनी जटिलता उन ग्रंथों में प्रकट हुई जो अनुष्ठान से संबंधित नहीं हैं।

अनुसंधान क्रियाविधि

द्वितीयक स्रोत

माध्यमिक डेटा कई संसाधनों से एकत्र किया जाता है जैसे विभिन्न पुस्तकालयों, पुस्तकों, शोध पत्रिकाओं, इंटरनेट, पत्रिका, और समाचार पत्रों में साहित्यिक कॉलम, आधिकारिक वेबसाइट

डेटा विश्लेषण

मध्यकालीन मुस्लिम वास्तु

वास्तुकला पर मुसलमानों के आक्रमण का जितना प्रभाव भारत में पड़ा उतना अन्यत्र कहीं नहीं, क्योंकि जिस सभ्यता से मुस्लिम सभ्यता की टक्कर हुई, किसी से उसका इतना विरोध नहीं था जितना भारतीय सभ्यता से। चिर प्रतिष्ठित भारतीय सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियों की तुलना में मुस्लिम सभ्यता बिलकुल नई तो थी ही, उसके मौलिक सिद्धात भी भिन्न थे। दोनों का संघर्ष यथार्थवाद का आदर्शवाद से, वास्तविकता का स्वप्नदर्शिता से और व्यक्त का अव्यक्त से संघर्ष था, जिसका प्रमाण मस्जिद और मंदिर के भेद में स्पष्ट है। मस्जिदें खुली हुई होती हैं, उनका केंद्र सुदूर मक्का की दिशा में होता है; जबकि मंदिर रहस्य का घर होता है, जिसका केंद्र अनेक दीवारों एवं गलियारों से घिरा हुआ बीच का

देवस्थान या गर्भगृह होता है। मजिस्द की दीवारें प्रायरू सादी या पवित्र आयतों से उत्कीर्ण होती हैं, उनमें मानव आकृतियों का चित्रण निषिद्ध होता है; जबकि मंदिरों की दीवारों में मूर्तिकला और मानवकृति चित्रण उच्चतम शिखर पर पहुँचा, पर लिखाई का नाम न था। पत्थरों के सहल रंगों में ही इस चित्रण द्वारा मंदिरों की सजीवता आई; जबकि मस्जिदों में रंगबिरंगे पत्थरों, संगमर्मर और चित्र विचित्र पलस्तर के द्वारा दीवारें मुखर की गई।

गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत पर एक ही प्रकार की भारी भरकम संरचनाएँ खड़ी करने में सिद्धहस्त, भारतीय कारीगरों की युगों युगों से एक ही लीक पर पड़ी, निष्प्रवाह प्रतिभा, विजेताओं द्वारा अन्य देशों से लाए हुए नए सिद्धांत, नई पद्धतियाँ और नई दिशा पाकर स्फूर्त हो उठी। फलस्वरूप धार्मिक इमारतों, जैसे मस्जिदों, मकबरों, रौजों और दरगाहों के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार की धर्मनिरपेक्ष इमारतें भी, जैसे महल, मंडप, नगरद्वार, कूप, उद्यान और बड़े बड़े किले, यहाँ तक कि सारा शहर घेरनेवाले परकोटे तक तैयार हुए। देश में उत्तर से दक्षिण तक जैसे जैसे मुस्लिम प्रभत्व बढ़ता गा, वास्तुकला का युग भी बदलता गया।

मुस्लिम वास्तु के चार चरण

मुस्लिम वास्तु के तीन क्रमिक चरण स्पष्ट हैं। पहला चरण, जो बहुत थोड़े समय रहा, विजयदर्प और धर्मांधता से प्रेरित षनिर्मूलनष का था, जिसके बारे में हसन निज़ामी लिखता है कि प्रत्येक किला जीतने के बाद उसके स्तंभ और नींव तक महाकाय हाथियों के पैरों तले रौंदवाकर धूल में मिला देने का रिवाज था। अनेक दुर्ग, नगर और मंदिर इसी प्रकार अस्तित्वहीन किए गए। तदनंतर दूसरा चरण सोद्देश्य और आंशिक विध्वंस का आया, जिसमें इमारतें इसलिए तोड़ी गईं कि विजेताओं की मस्जिदों और मकबरों के लिए तैयार माल उपलब्ध हो सके। बड़ी–बड़ी धरनें और स्तम्भ अपने स्थान से हटाकर नई जगह ले जाने के लिए भी हाथियों का ही प्रयोग हुआ। प्रयरू इसी काल में मंदिरों को विशेष क्षति पहुँची, जो विजित प्रांतों की नई नई राजधानियों के निर्माण के लिए तैयार माल की खान बन गए और उत्तर भारत से हिंदू वास्तु की प्रायरू सफ़ाई ही हो गई। अंतिम चरण तब आरंभ हुआ, जब आक्रांता अनेक भागों में भली भाँति जग गए थे और उन्होंने प्रत्यवस्थापन के बजाय योजनाबद्ध निर्माण द्वारा सुविन्यस्त और उत्कृष्ट वास्तुकृतियाँ वस्तुत कीं।

मुस्लिम वास्तु की तीन शैलियाँ

शैलियों की दृष्टि से भी मुस्लिम वास्तु के तीन वर्ग हो सकते हैं। पहली दिल्ली शैली, अथवा शहंशाही शैली है, जिसे प्रायरू ष्पठान वास्तुष (1193–1554) कहते हैं (यद्यपि इसके सभी पोषक ष्पठानष नहीं थे)। इस वर्ग में दिल्ली की कुतुबमीनार (1200), सुल्तान गढ़ी (1231), अल्तमश का मकबरा (1236), अलाई दरवाज़ा (1305), निजामुद्दीन (1320), गयासुद्दीन तुगलक (1325) और फीरोजशाह तुगलक (1388) के मकबरे, कोटला फीरोजशाह

(1354–1490), मुबारकशाह का मकबरा (1434), मेरठ की मस्जिद (1505), शेरशाह की मस्जिद (1540–45) सहसराम का शेरशाह का मकबरा (1540–45) और अजमेर का अढ़ाई दिन का झोंपड़ा (1205) आदि उल्लेखनीय हैं।

दूसरे वर्ग में प्रांतीय शैलियाँ हैं। इनमें पंजाब शैली (1150–1325 ई.); जैसे मुल्तान के श्रकने आलम (1320) और शाहयूसुफ गर्दिजी (1150), तब्रिजी (1276), बहाउलहक (1262) के मकबरे; बंगाल शैली (1203–1573) रू जैसे पंडुआ की अदीना मस्जिद (1364), गौर के फतेहखाँ का मकबरा (1657), कदम रसूल (1530), तांतीमारा मस्जिद (1475); गुजरात शैली (1300–1572) रू जैसे खंबे (1325), अहमदाबाद (1423), भड़ोच और चमाने (1523) की जामा मस्जिदें, नगीना मस्जिद मकबरा (1525); जौनपुर शैली (1376–1479) रू जैसे अटाला मस्जिद (1408), लाल दरवाजा मस्जिद (1450), जामा मस्जिद (1470); मालवा शैली (1405–1569) रू जैसे माडू के जहाजमहल (1460), होशंग का मकबरा (1440), जामा मस्जिद (1440), हिंडोला महल (1425), धार की लाट मस्जिद (1405), चंदेरी का बदल महल फाटक (1460), कुशक महल (1445), शहज़ादी का रौजा (1450); दक्षिणी शैली (1347–1617) रू जैसे गुलबर्ग की जामा मस्जिद (1367) और हफ्त गुंबज (1378), बीदर का मदरसा (1481), हैदराबाद की चारमीनार (1591) आदि; बीजापुर खानदेश शैली (1425–1660), जैसे बीजापुर के गोलगुंबज (1660), रौजा इब्राहीम (1615) और जामा मस्जिद (1570), थालनेर खानदेश के फारूकी वंश के मकबरे (15 वीं शती); और कश्मीर शैली (15–17 वीं शती) रू जैसे श्रीनगर की जामा मस्जिद (1400), शाह हमदन का मकबरा (17 वीं शती) आदि, सम्मिलित हैं।

तीसरे वर्ग में मुगल शैली आती है, जिसके उत्कृष्टतम नमूने दिल्ली, आगरा, फतेहपुर सीकरी, लखनऊ, लाहौर आदि में किलों, मकबरों, राजमहलों, उद्यान मंडपों आदि के रूप में मौजूद हैं। इसी काल में कला पत्थर से बढ़कर संगमर्मर तक पहुँची और दिल्ली के दीवाने खास, मोती मस्जिद, जामा मस्जिद और आगरा के ताजमहल जैसी विश्वविश्रुत कृतियाँ तैयार हुई।

निष्कर्ष

भारतीय वास्तु की विशेषता यहाँ की दीवारों के उत्कृष्ट और प्रचुर अलंकरण में है। भित्तिचित्रों और मूर्तियों की योजना, जिसमें अलंकरण के अतिरिक्त अपने विषय के गंभीर भाव भी व्यक्त होते हैं, भवन को बाहर से कभी कभी पूर्णतया लपेट लेती है। इनमें वास्तु का जीवन से संबंध क्या, वास्तव में आध्यात्मिक जीवन ही अंकित है। न्यूनाधिक उभार में उत्कीर्ण अपने अलौकिक कृत्यों में लगे हुए देश भर के देवी देवता, तथा युगों पुराना पौराणिक गाथाएँ, मूर्तिकला को प्रतीक बनाकर दर्शकों के सम्मुख अत्यंत रोचक कथाओं और मनोहर चित्रों की एक पुस्तक सी खोल देती हैं। हड़प्पा काल के बाद की स्थापत्य शैली को हिंदू, बौद्ध और जैन के रूप में वर्गीकृत किया गया है, मध्ययुगीन काल में फारसी

और वास्तुकला की स्वदेशी शैलियों का संश्लेषण देखा गया। इसके बाद औपनिवेशिक काल ने पश्चिमी स्थापत्य रूपों का प्रभाव भारत में लाया। इस प्रकार भारतीय वास्तुकला स्वदेशी शैलियों और बाहरी प्रभावों का एक संश्लेषण है जिसने इसे अपनी अनूठी विशेषता प्रदान की है। भारत के स्थापत्य की जड़ें यहाँ के इतिहास, दर्शन एवं संस्कृति में निहित हैं। भारत की वास्तुकला यहाँ की परम्परागत एवं बाहरी प्रभावों का मिश्रण है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचि

[1] भागवत, रामू (19 दिसंबर 2001)। ष्दीक्षाभूमि में स्थापित किया गया अंबेडकर स्मारकष्। टाइम्स ऑफ इंडिया। मूल से 16 कक्षा 2013 को पुरालेखित। अभिगमन दिनांक 1 जुलाई 2013.

[2] के. वात्स्यायन, द स्क्वायर एंड द सर्कल ऑफ इंडियन आर्ट्स। अभिनव प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997।

[3] बी बी लाल, दक्षिण एशिया की सबसे प्रारंभिक सभ्यता। आर्यन बुक्स इंटरनेशनल, 1997।

[4] एस. काक, सिंधु लिपि का आवृत्ति विश्लेषण। क्रिप्टोलोगिया। 12रू129–143, 1988; एस. काक, सिंधु लेखन। मानव जाति तिमाही। 30रू113–118, 1989; एस. काक, सिंधु और ब्राह्मीरू आगे के कनेक्शन। क्रिप्टोलोगिया। 14रू169–183, 1990; एस. काक, इवोल्यूशन ऑफ अर्ली राइटिंग इन इंडिया। इंडियन जर्नल ऑफ हिस्ट्री ऑफ साइंस। 29रू 375–388, 1994; एस. काक, एक सिंधु सरस्वती साइनबोर्ड। क्रिप्टोलोगिया। 20रू 275–279, 1996।

[5] एस. क्रैमरिश, द हिंदू टेंपल। कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, 1946।

[6] एस. काक, द गॉड्स विदिन। मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, 2002।

[7] कपिला वात्स्यायन, साहित्य और कला में शास्त्रीय भारतीय नृत्य। संगीत नाटक अकादमी (पहला संस्करण 1968), नई दिल्ली, 1977।

[8] भारतीय मूर्तिकला में पद्म सुब्रह्मण्यम, करण। पीएचडी थीसिस, अन्नामलाई विश्वविद्यालय, 1978; पद्म सुब्रह्मण्यम, नाट्य शास्त्र और राष्ट्रीय एकता। श्री रामवर्मा गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज, त्रिपुनिथुरा, केरल, 1997।

[9] 18एलेसेंड्रा अय्यर, प्रम्बाननरू प्राचीन जावा में नृत्य और मूर्तिकला। नृत्य आइकनोग्राफी में एक अध्ययन। व्हाइट लोटस, बैंकॉक, 1998।

[10] एडी नेपियर, मास्क, ट्रांसफॉर्मेशन, और विरोधाभास। कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय प्रेस, बर्कले, 1986; एस. काक, लश्अरब्रे ए सौहैट्स – प्रेजेंस और प्रोमेसे डे लश्इंडे। संस्करण बरगद, पेरिस, 2004